

## न्याय-विद्यामृत

न्याय एक विद्या है, जिसे न्यायशास्त्र, तर्कशास्त्र, आन्वीक्षिकी विद्या और हेतुविद्या या हेतुवाद कहा गया है। आचार्य अनन्तवीर्यने तो इस न्याय-विद्याको अमृत कहा है। परीक्षा-मुखकी व्याख्याके आरम्भमें मङ्गलाचरणके बाद वे लिखते हैं<sup>१</sup>—

अकलङ्कवचोऽम्भोधेरुद्घ्रे येन धीमता ।  
न्याय-विद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥

‘विद्वत्तासे ओतप्रोत जिन विद्वान् आचार्य माणिक्यनन्दिने अकलङ्कके वचन-समुद्रका अवगाहन कर उससे न्यायविद्यारूप अमृतको निकाला अर्थात् परीक्षामुख लिखा उन माणिक्यनन्दिके लिए विनम्रतापूर्वक नमस्कार (प्रणाम) करता हूँ ।’

यहाँ अनन्तवीर्यने माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखको ‘न्यायविद्यामृत’ कहा है, जो जैन न्यायका आद्यसूत्र ग्रन्थ है। अमृत जिस प्रकार अमरत्व प्रदान करता है उसी प्रकार न्यायविद्या तत्त्वज्ञानको प्रदान कर आत्माको अमर (मिथ्याज्ञानादि संसार-बन्धनसे मुक्त) कर देती है। निश्चय ही यह न्याय-विद्याके प्रभावकी उद्घोषणा है।

प्रत्यक्षादि प्रमाणको अथवा प्रमाणनयात्मक युक्तिको न्याय कहा है<sup>२</sup>। निपूर्वक ‘इण्’ गमनार्थक धातुसे ‘करण’ अर्थमें ‘घञ्’ प्रत्यय करनेपर ‘न्याय’ शब्दकी सिद्धि होती है, जिसका यह अर्थ होता है कि जिसके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान निश्चित रूपमें होता है। तत्त्वार्थसूत्रकारने भी यही लिखा है<sup>३</sup>। वे कहते हैं कि प्रमाण और नयसे जीवादि तत्त्वोंका ज्ञान होता है। अतः तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए प्रमाण-नयात्मक न्यायविद्याका अध्ययन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है<sup>४</sup>। इसलिए ऐसी विद्याको ‘अमृत’ कहा जाना उपयुक्त है।

सभी दर्शनोंमें इस विद्याका प्रतिपादन और विशेष विवेचन किया गया है। जैन दर्शनमें इस विद्याके प्रचुर बीज आचार्य गृद्धपिच्छके<sup>५</sup> तत्त्वार्थसूत्रमें उपलब्ध होते हैं। स्वामी समन्तभद्रके देवागम<sup>६</sup> (आप्तभीमांसा), युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्रमें न्यायका विकासारम्भ प्राप्त है।

१. प्रमेयर्त्नमाला, प्रथम समुद्देश, श्लोक २।

२. प्रत्यक्षादिप्रमाणं न्यायः। अथवा नयप्रमाणात्मिका युक्तिन्यायः। निपूर्वादिण्गतावित्यस्माद्धातोः करणे घञ्प्रत्ययः, तेन न्यायशब्दसिद्धिः। नितरां ईयते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति न्यायः।—वही, टिप्पण पृ० ४।

३. त० सू० १-६।

४. न्यायदी० पृ० ५, मूल व टिप्प०।

५. ‘तत्त्वार्थसूत्रमें न्यायशास्त्रके बीज’ शीर्षक निबन्ध, जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० ७०।

६. इन्होंने अपने ग्रन्थोंमें न्यायशास्त्रकी एक उत्तम एवं योग्य भूमिका प्रस्तुत की है, जिसे जैन न्यायके विकासका आदिकाल कह सकते हैं। देखो, जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० ७ से ११।

स्वामी समन्तभद्रने भारतीय दार्शनिक क्षेत्रके जैन दर्शन क्षेत्रमें युग-प्रवर्तकका कार्य किया है। उनके पहले जैन दर्शनके प्राणभूत तत्त्व 'स्याद्वाद' को प्रायः आगमरूप ही प्राप्त था और उसका आगमिक तत्त्वोंके निरूपणमें ही उपयोग होता था तथा सीधी-साधी विवेचना कर दी जाती थी। विशेष युक्तिवाद देनेकी आवश्यकता नहीं होती थी। किन्तु समन्तभद्रके समयमें उस युक्तिवादकी आवश्यकता महसूस हुई। दूसरी-तीसरी शताब्दीका समय भारतवर्षके सांस्कृतिक इतिहासमें अपूर्व दार्शनिक क्रान्तिकार रहा है, इस समय सभी दर्शनोंमें अनेक क्रान्तिकारी विद्वान् पैदा हुए हैं। यह हम उस समयके दार्शनिक ग्रन्थोंसे ज्ञात कर सकते हैं। समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा इसकी साक्षी है, जिसमें भावैकान्त, अभावैकान्त आदि अनेक एकान्तोंकी चर्चा और उनकी समालोचना उपलब्ध है। इसीलिए समन्तभद्रके कालको जैन न्यायके विकासका आदिकाल कहा जाता है। इस तरह इस आदिकाल अथवा समन्तभद्रकालमें जैन न्यायकी एक योग्य और उत्तम भूमिका तैयार हो गयी थी।

उक्त भूमिकापर जैन न्यायका उत्तुंग और सर्वांगपूर्ण महान् प्रासाद जिस कुशल और तीक्ष्णबुद्धि तार्किक-शिल्पीने खड़ा किया, वह है अकलंक। अकलंकके कालमें भी समन्तभद्रसे कहीं अधिक जबर्दस्त दार्शनिक मुठभेड़ हो रही थी। एक तरफ शब्दाद्वैतवादी भर्तृहरि, प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल, न्यायनिष्णात उद्योतकर प्रभृति वैदिक विद्वान् अपने पक्षोंपर आरुढ़ थे, तो दूसरी ओर धर्मकीर्ति और उनके तर्कपटु शिष्य एवं व्याख्याकार प्रज्ञाकर, धर्मांतर, कर्णकगोमि आदि बौद्ध तार्किक अपने पक्षपर दृढ़ थे। शास्त्रार्थी और शास्त्रनिर्माणकी पराकाष्ठा थी। प्रत्येक दार्शनिकका प्रयत्न था कि वह जिस किसी तरह अपने पक्षको सिद्ध करे और परपक्षका निराकरण कर विजय प्राप्त करे। इतना ही नहीं, परपक्षको असद् प्रकारोंसे पराजित एवं तिरस्कृत भी किया जाता था। विरोधीको 'पशु', 'अह्लीक' जैसे गहित शब्दोंसे व्यवहृतकर उसके सिद्धान्तोंको तुच्छ प्रकट किया जाता था। यह काल जहाँ तर्कके विकासका मध्याह्न माना जाता है वहाँ इस कालमें न्यायका बड़ा उपहास भी हुआ है। तत्त्वके संरक्षणके लिए छल, जाति, निग्रहस्थान जैसे असद् उपायोंका खुलकर प्रयोग करना और उन्हें शास्त्रार्थका अंग मानना इस कालकी देन बन गयी<sup>१</sup>। क्षणिकवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि पक्षोंका समर्थन इस कालमें घड़ल्लेसे किया गया और कट्टरतासे इतरका निरास किया गया।

तीक्ष्णदृष्टि अकलङ्कने इस स्थितिका अध्ययन किया और सभी दर्शनोंका गहरा एवं सूक्ष्म अभ्यास किया। इसके लिए उन्हें काँची, नालन्दा आदिके तत्कालीन विद्यापीठोंमें प्रच्छन्न-वेषमें रहना पड़ा। समन्तभद्र द्वारा स्थापित स्याद्वादन्यायकी भूमिकाको ठीक तरह न समझनेके कारण दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, उद्योतकर, कुमारिल आदि बौद्ध-वैदिक विद्वानोंने पक्षाग्रही दृष्टिका ही समर्थन किया था तथा जैन दर्शनके स्याद्वाद, अनेकान्त आदि सिद्धान्तोंपर आक्षेप किये थे। अतः अकलङ्कने महाप्रयास करके तीन अपूर्व कार्य किये। एक तो शास्त्रार्थी द्वारा जैन दर्शनके सही रूपको प्रस्तुत किया और आक्षेपोंका निराकरण किया। दूसरा कार्य यह किया कि स्याद्वादन्यायपर आरोपित दूषणोंको दूर कर उसे स्वच्छ बनाया और तीसरा कितना ही नया निर्माण किया। यही कारण है कि उनके द्वारा निर्मित ग्रन्थोंमें चार ग्रन्थ केवल न्यायशास्त्रपर ही लिखे गये हैं, जिनमें विभिन्न वादियों द्वारा दिये गये सभी दूषणोंका परिहार कर उनके एकान्त सिद्धान्तोंकी कड़ी समीक्षा की गयी है और जैन न्यायके जिन आवश्यक उपादानोंका जैन दर्शनमें विकास नहीं हो सका था, उनका उन्होंने विकास किया अथवा उनकी प्रतिष्ठा की है। उनके वे महत्त्वपूर्ण न्यायग्रन्थ निम्न

१. न्यायसू० १।१।१, ४।२।५०, १।२।२, ३, ४ आदि और उनकी व्याख्याएँ।

प्रकार है—१. न्यायविनिश्चय (स्वोपज्ञवृत्ति सहित) २. सिद्धि-विनिश्चय, ३. प्रमाणसंग्रह और ४. लघीय-स्त्रय (स्वोपज्ञवृत्ति सहित) । ये चारों ग्रन्थ कारिकात्मक हैं ।

अकलङ्कने जैन न्यायकी जो रूपरेखा और दिशा निर्धारित की, उसीका अनुसरण उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकोंने किया है । हरिभद्र, वीरसेन, कुमारनन्द विद्यानन्द, अनन्तवीर्य प्रथम, वादिराज, माणिक्यनन्द आदि मध्ययुगीन आचार्योंने उनके कार्यको आगे बढ़ाया और उसे यशस्वी बनाया है । उनके सूत्रात्मक-एवं दुरूह कथनको इन आचार्योंने अपनी रचनाओं द्वारा सुविस्तृत और सुपुष्ट किया है । हरिभद्रकी अने कान्तजयपताका, शास्त्रवातसिमुच्चय, वीरसेनकी तर्कबहुल धवला-जयधवला टीकाएँ, कुमारनन्दिका वाद-न्याय, विद्यानन्दके विद्यानन्दमहोदय, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, आप्त-परीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चयटीका, प्रमाणसंग्रहभाष्य, वादिराजके न्यायविनिश्चय-विवरण, प्रमाण-निर्णय और माणिक्यनन्दिका परीक्षामुख इस कालकी अनूठी न्याय-रचनाएँ हैं ।

जैन न्यायके विकासका उत्तरकाल प्रभाचन्द्रका काल माना जा सकता है, क्योंकि प्रभाचन्द्रने इस कालमें अपने पूर्वज आचार्योंका अनुगमन करते हुए जो विशालकाय व्याख्याग्रन्थ लिखे हैं वैसे व्याख्याग्रन्थ उनके बाद नहीं लिखे गये । अकलंकके लघीयस्त्रयपर लघीयस्त्रयालंकार, जिसका दूसरा नाम न्यायकुमुदचन्द्र है और माणिक्यनन्दके परीक्षामुखपर प्रमेयकमलमार्त्तण्ड नामकी प्रमेयबहुल एवं तर्कपूर्ण टीकाएँ रची हैं, जो प्रभाचन्द्रकी अमोघ तर्कणा और उज्ज्वल यशको प्रसृत करती हैं । अभयदेवकी सन्मतितर्कटीका और वादि-देवसूरिका स्याद्वादरत्नाकर (प्रमाणनय-तत्त्वालोकालंकारटीका) ये दो टीकाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं, जो प्रभाचन्द्रकी तर्क-पद्धतिसे प्रभावित हैं ।

इस कालमें मौलिक ग्रन्थोंके निर्माणकी क्षमता प्रायः कम हो गयी और व्याख्याग्रन्थोंका निर्माण हुआ । लघु अनन्तवीर्यने परीक्षामुखकी लघुवृत्ति—प्रमेयरत्नमाला, अभयदेवने सन्मतितर्कटीका, देवसूरिने प्रमाणनय-तत्त्वालोकालंकार और उसकी स्वोपज्ञ टीका स्याद्वादरत्नाकर, अभयचन्द्रने लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्ति, हेमचन्द्रने प्रमाणमीमांसा, मल्लिषेणने स्याद्वादमंजरी, आशाधरने प्रमेयत्नाकर, भावसेनने विश्वतत्त्वप्रकाश, अजितसेनने न्यायमणिदीपिका, धर्मभूषणने न्यायदीपिका, चाहकीर्तिने अर्थप्रकाशिका और प्रमेयरत्नालंकार, विमलदासने सप्तभङ्गि-तरंगिणी, नरेन्द्रसेनने प्रमाणप्रमेयकलिका और यशोविजयने अष्टसहस्रीविवरण, ज्ञानबिन्दु और जैन तर्कभाषाकी रचना की, जो विशेष उल्लेखयोग्य न्यायग्रन्थ हैं । इसके बाद जैन न्यायकी धारा प्रायः बन्द हो गयी । हाँ, बीसवीं शताब्दीमें श्री गणेशप्रसाद वर्णी न्यायाचार्य, पं० माणिक्यन्द्रजी न्यायाचार्य, पं० मुखलालजी प्रज्ञाचक्षु, पं० दलसुखभाई मालवणिया और पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यके भी नाम उल्लेख योग्य हैं, जिन्होंने न्यायशास्त्रका गहरा अध्ययन किया और न्यायग्रन्थोंका सम्पादनकर उनके साथ शोधपूर्ण प्रस्तावनाएँ निबद्ध की हैं ।

इस न्याय-विद्याके अध्ययनकी विद्वत्ता और पाण्डित्य प्राप्त करनेके लिए बहुत आवश्यकता है । उससे बुद्धि पैनी एवं तर्कप्रवण होती है । न्यायशास्त्रका अध्येता परीक्षा-चक्षु होता है ।

**न्यायविद्याके अध्ययनसे लाभ**

१. हरेक व्यक्तिकी बुद्धि स्वभावतः कुछ न कुछ तर्कशील रहती है । न्यायशास्त्रके अध्ययनसे उस तर्कमें विकास होता है, बुद्धि परिमार्जित होती है, प्रश्न करने और उसे जमा कर उपस्थित करनेका बुद्धिमें माद्दा आता है । बिना तर्ककी बुद्धि कभी-कभी ऊटपटांग—जीको स्पर्श न करने वाले प्रश्न कर बैठती है, जिससे व्यक्ति हास्यका पात्र बनता है ।

२. न्याय-ग्रन्थोंका पढ़ना व्यवहारकुशलताके लिये भी उपयोगी है। उससे हमें यह मालूम हो जाती है कि दुनियामें भिन्न-भिन्न विचारोंके लोग हमेशासे रहे हैं और रहेंगे। यदि हमारे विचार ठीक और सत्य हैं और दूसरेके विचार ठीक एवं सत्य नहीं हैं तो दर्शनशास्त्र हमें दिशा दिखाता है कि हम सत्यके साथ सहिष्णु भी बनें और अपनेसे विरोधी विचार वालोंको अपने तर्कों द्वारा ही सत्यकी ओर लानेका प्रयत्न करें, जोर-जबरदस्तीसे नहीं। जैन दर्शन सत्यके साथ सहिष्णु है। इसीलिये वह और उसका सम्प्रदाय भारतमें टिका चला आ रहा है, अन्यथा बौद्ध आदि दर्शनोंकी तरह उसका टिकना अशक्य था। अन्धश्रद्धाको हटाने, वस्तु-स्थितिको समझने और विभिन्न विचारोंका समन्वय करनेके लिये न्याय एवं दार्शनिक ग्रन्थोंका पढ़ना, मनन करना, चिन्तन करना जरूरी है। न्याय-ग्रन्थोंमें जो आलोचना पाई जाती है उसका उद्देश्य केवल इतना ही है कि सत्यका प्रकाशन और सत्यरूपा ग्रहण हो। न्यायालयमें भी झूठे पक्षकी आलोचनाकी ही जाती है।

३. न्यायशास्त्रका प्रभावक्षेत्र व्यापक है। व्याकरण, साहित्य, राजनीति, इतिहास, सिद्धान्त आदि सबपर इसका प्रभाव है। कोई भी विषय ऐसा नहीं है जो न्यायके प्रभावसे अछूता हो। व्याकरण और साहित्यके उच्च ग्रन्थोंमें न्यायसूर्यका तेजस्वी और उज्ज्वल प्रकाश सर्वत्र फैला हुआ मिलागा। मैं उन मित्रोंको जानता हूँ जो व्याकरण और साहित्यके अध्ययनके समय न्यायके अध्ययनकी अपनेमें महसूस करते हैं और उसकी आवश्यकतापर जोर देते हैं। इससे स्पष्ट है कि न्यायका अध्ययन कितना उपयोगी और लाभदायक है।

४. किसी भी प्रकारकी विद्वत्ता प्राप्त करने और किसी भी प्रकारके साहित्य-निर्माण करनेके लिये चलता दिमाग चाहिए। यदि चलता दिमाग नहीं है तो वह न तो विद्वान बन सकता है और न किसी तरहके साहित्यका निर्माण ही कर सकता है। और यह प्रकट है कि चलता दिमाग मुख्यतः न्यायशास्त्रसे होता है। उसे दिमागको तीक्ष्ण एवं द्रुत गतिसे चलता करनेके लिए उसका अवलम्बन जरूरी है। सोनेमें चमक कसौटीपर ही की जाती है। अतः साहित्यसेवी और विद्वान बननेके लिए न्यायका अभ्यास उतना ही जरूरी है जितना आज राजनीति और इतिहासका अध्ययन।

५. न्यायशास्त्रमें कुशल व्यक्ति सब दिशाओंमें जा सकता है और सब क्षेत्रोंमें अपनी विशिष्ट उन्नति कर सकता है—वह असफल नहीं हो सकता। सिर्फ शर्त यह कि वह न्यायग्रन्थोंका केवल भारवाही न हो। उसके रससे पूर्णतः अनुप्राणित हो।

६. निसर्गत तर्क कम लोगोंमें होता है। अधिकांश लोगोंमें तो अधिगमज तर्क ही होता है, जो साक्षात् अथवा परम्परया न्यायशास्त्र—तर्कशास्त्रके अभ्याससे प्राप्त होता है। अतएव जो निसर्गतः तर्कशील नहीं हैं उन्हें कभी भी हताश नहीं होना चाहिए और न्यायशास्त्रके अध्ययन द्वारा अधिगमज तर्क प्राप्त करना चाहिए। इससे वे न केवल अपना ही लाभ उठा सकते हैं किन्तु वे साहित्य और समाजके लिए भी अपूर्व देनकी सृष्टि कर सकते हैं।

७. समन्तभद्र, अकलंक, विद्यानन्द आदि जो बड़े-बड़े दिग्गज प्रभावशाली विद्वानाचार्य हुए हैं वे सब न्यायशास्त्रके अभ्याससे ही बने हैं। उन्होंने न्यायशास्त्र-रत्नकारका अच्छी तरह अवगाहन करके ही उत्तम-उत्तम ग्रन्थरत्न हमें प्रदान किये हैं, जिनका प्रकाश आज प्रकट है और जो हमें धरोहरके रूपमें सौभाग्यसे प्राप्त हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम उन रत्नोंकी आभाको अधिकाधिक रूपमें दुनियामें कोने-कोनेमें फैलायें, जिससे जैन शासनकी महत्ता और जैन दर्शनका प्रभाव लोकमें ख्यात हो।

वस्तुतः न्याय-विद्या एक बहुत उपयोगी और लाभदायक विद्या है, जिसका अध्ययन लौकिक और पारमाथिक दोनों दृष्टियोंसे आवश्यक है।